खण्ड—४ अध्याय—२०

श्रमनीति

राज्य का संविधान

तथा

कार्यकलाप

समाज की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था

भारतीय मजदूर संघ

प्रस्तावना

राष्ट्रीय श्रम आयोग को भारतीय मजदूर संघ द्वारा प्रस्तुत किये गये 'Labour Policy' नामक अंग्रेजी पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद है हिन्दी में इस पुस्तिका के सभी २० अध्याय अलग-अलग पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किये गये हैं।

आपातकालीन स्थिति के अन्तर्गत कानपुर जिला कारागार में बंदी की अवधि में इस अध्याय का हिन्दी अनुवाद आई० आई० टी० कानपुर के प्राध्यापक डा० भूषणलाल धूपड़ के सहयोग से किया गया है। मैं इनके प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

—प्रकाशक

अध्याय–२० खण्ड ४

राज्य का संविधान तथा कार्यकलाप

समाज की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था

योजना के आदर्श

योजना के क्रियान्वयन हेतु जनता में उचित जोश उत्पन्न करने के लिए यह अनिवार्य है कि योजना राष्ट्र की 'संस्कृति' को सम्मुख रखकर बननी चाहिए। 'संस्कृति' शब्द का अर्थ समाज के मस्तिष्क पर पड़ी धारणाओं की दिशा से है, जो उस समाज को विशेष रूप प्रदान करती हैं और कालान्तर में जिसे समाज की उत्कण्ठा, भावनाओं, विचार, वाणी और गतिविधियों के सामूहिक प्रभाव को कहते हैं।

जाति राष्ट्रादिसंघातां साकल्यं चरितस्य यत् ।
व्यक्तं 'संस्कृति' शब्देन·····ज्ञानकोशकार ।।

हमारी संस्कृति के अनुसार योजना के उद्देश्य सदैव से धर्म की क्रमशः अनुभूति से बनी है। 'धर्म' शब्द का सम्पूर्ण अर्थ एवं विशेषता समाज की धारणा है। धर्म जनप्राणी की सम्पन्नता के रूप में बतलायी गयी है अथवा जो सम्पन्नता से प्राप्त होती है, उसे वस्तुतः धर्म कहते हैं।

प्रभवाय हि भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्
यस्त्यात् प्रभव संयुक्तः स धर्म इति निश्चय:

महाभारत

'प्रभव' शब्द भौतिक प्रगति साथ ही आध्यात्मिक उन्नति को प्रकट करता है। (यतोभ्युदयनिः श्रेयशसंसिद्धिः सधर्मः)। कोई भी योजना जो इन दोनों उद्देश्यों में से केवल एक को ग्रहण करती है, समाज की संतुलित प्रगति को प्राप्त करने में एकतरफा व एकाकी रहती है। व्यवहारिक पक्ष से देखा गया है कि नागरिकों की एक न्यूनतम आवश्यकता तक आध्यात्मिक उन्नति उन्हें इस योग्य बनाती है कि वह अपने श्रम के फल को 'समाज पुरुष' के पवित्र चरणों में समर्पित कर दें। (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दिति मानवाः)। समर्पण की भावना की अनुपस्थिति में

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की वास्तविक विशेषतायें और प्रशंसनीय उपलब्धियां आपस में स्पर्द्धा बन जाती हैं, बजाय इसके कि वे एक दूसरे के पोषक हों। भौतिकीय स्तर पर हमारे समाज में जो मनुष्य पैदा हुआ है, उसको निवास करने का अधिकार है। प्राचीन भारत में कोई भी व्यक्ति अपनी रोटी की उपलब्धि के बिना अपना जन्म नहीं लेता था। भारतीय राज्य तन्त्र के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का अपनी प्रकृति के अनुसार काम करने के अधिकार को मौलिक अधिकार तथा जिम्मेदारी माना गया है। यह भारतीय आत्मा के विरुद्ध प्रतीत होता है कि अपने वर्तमान संविधान ने इस हक को सम्मिलित नहीं किया है। यह माना गया था कि जब तक जीवन की प्राथमिक आवश्यकतायें पूरी नहीं होती, मनुष्य को मानसिक शान्ति नहीं मिल सकती और न ही उसे इतना समय मिलता है कि वह मानसिक शान्ति से बढ़कर दूसरे उद्देश्यों के लिए ध्यान केन्द्रित करे। व्यक्ति का सर्वतोमुखी विकास तभी सम्भव होता है, जब उसे अपने गुण कर्म (स्वभावज गुणकर्म) के अनुकूल काम मिले। भारतीय सामाजिक आर्थिक प्रबन्ध की विशेषताओं में धारणाओं पर आधारित कार्य की व्यवस्था करनी थी। वे सभी व्यक्ति जो समान दृष्टिकोण रखते थे, और समान कार्य में लगे हुए थे, एक व्यवसायगत परिवार को बनाते थे, एक ही उद्योग में काम करने वाले सभी व्यवसायिक परिवार एक औद्योगिक परिवार को बनाते थे और एक ही क्षेत्र में सभी औद्योगिक परिवार क्षेत्रीय-औद्योगिक सामाजिक आर्थिक समूह को बनाते थे और सभी प्रकार के क्षेत्रीय-औद्योगिक समूहों को जोड़कर राष्ट्र बनता था। हर एक परिवार अथवा समूह को आन्तरिक स्वतन्त्रता और आजादी प्राप्त थी, ताकि इस सम्पूर्ण और उच्चस्तरीय राष्ट्र पुरुष के सर्वसाधारण अनुशासन के अन्तर्गत वे अपनी योजनायें बनाये। स्व-अनुशासन पर अधिक आग्रह किया गया था और भिन्न-भिन्न स्तरों पर के झगड़े अपने ही स्तर पर लोकप्रिय औद्योगिक समितियों द्वारा निपटाये जाते थे। राज्य द्वारा हस्तक्षेप बहुत ही कम था और राज्य समाज के नैतिक नेतृत्व द्वारा बताये गये नियमों और नियन्त्रणों के अन्तर्गत काम करता था। इस नैतिक नेतृत्व में न धन निहित था और न सत्ता। संक्षेप में हमारे समाज की स्वायत्तशासी, स्व-प्रशासित सामाजिक आर्थिक इकाइयों का चित्रण था, जो अपनी योजनाओं का स्वयं विकास करती थीं और सर्वकर्ष राष्ट्रीय योजना का अंग रहती थीं।

हमारे अनुसार यह आदर्शवादी स्थिति है। यदि राज्य को योजना के बनाने का सम्पूर्ण अधिकार देने का मान लिया गया, तो अधिकार मद का पैदा होना अनिवार्य है। यदि भिन्न-भिन्न हित समूह, जो समान चेतना को मानने वाले नही होते, को अपना मार्ग अपनाने की स्वतंत्रता थी और यदि नैतिक नेतृत्व का एक वर्ग अनुपस्थित हुआ, तो प्रत्येक समूह अपनी ओर खींचातानी करेगा और उस स्थिति

में किसी भी प्रकार राष्ट्रीय योजना का प्रगटीकरण सोचा भी नहीं जा सकता। भिन्न-भिन्न समूहों की भीतरी स्वायत्तता अनिवार्य है और उसे राष्ट्रवाद की सुदृढ़ भावनाओं से किया जाना चाहिये, जो निःस्वार्थी व्यक्तियों द्वारा निर्देशित हो। ये निःवार्थी व्यक्ति हृदय से सम्पूर्ण समाज का हित चाहने वाले हों, केवल मात्र तभी राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम हो सकता है।

वर्तमान परिस्थितियों में ऊपर की रूपरेखा को प्रभावी ढंग से अपनाने में कठिनाई यह है कि हमारे सामाजिक आर्थिक समूह में इस कार्य हेतु उचित संगठन की कमी है, उदाहरणार्थ–जब संगठित उद्योगों में श्रमिकों के कुछ भाग ने आवश्यक संगठनात्मक स्तर को प्राप्त किया है, उस समय भी कृषि, गृह उद्योग एवं लघु उद्योग में काम करने वाले श्रमिक निश्चित रूप से न्यूनतम आवश्यक स्तर के बहुत नीचे हैं। यही स्थिति स्वकर्मी (Self employed) व्यक्तियों के समूह और कुछ अन्य समाज के लोगों जैसे कि सेड्यूल्ड ट्राइब्स आदि हैं, के लिये भी लागू होता है। इसके पहले कि उन्हें योजना के विकास में भाग लेने के लिये कहा जाय, इन सबको उचित संगठित स्वरूप प्रदान करना होगा, यद्यपि हमें विश्वास है कि राष्ट्रवादी लोग ऊपर लिखी गयी एकीकरण की प्रक्रिया को बढ़ाने के लिये अपना पूर्ण प्रयास करेंगे। हम यह भी अनुभव करते हैं कि वर्तमान ढांचें में ट्रेड यूनियन्स इसी प्रकार के संगठित समूहों की एक स्वरूप हैं। यद्यपि कालान्तर में हम यह आंकांक्षा रखते हैं कि ये अपने आपको भारतीय रचना के अनुसार व्यवसाय और औद्योगिक परिवारों के रूप में विकसित हो जायेंगे।

राज्य का आधार

हम यह देखते हैं कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन न केवल श्रमिकों की समस्याओं और मांगों को प्रस्तुत करने की एक एजेन्सी है, वरन् यह समाज की एक प्रकार की ज्ञान एवं कर्मेन्द्रिय के समान हैं, जो सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को सक्रिय रूप से विकसित करती हैं। वस्तुतः कर्मेन्द्रियों का कार्य इसका सही कार्य है और ज्ञानेन्द्रिय का कार्य आकस्मिक स्थितियों अथवा संयंत्र से सम्बन्धित महत्व के काम के समय है। इस प्रक्रिया को उस सीमा तक, जितना कि ट्रेड यूनियन्स जनसंख्या के पददलित वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्हें तुरन्त सहायता और सुविधा की आवश्यकता होती है, ट्रेड यनियन्स को समाज के शेष भागों के मुकाबले में अधिक जिम्मेदारी निभानी है, क्योंकि वर्तमान भारतीय परिस्थिति के अन्तर्गत ये अधिक सूक्ष्मग्राही (Sensitiue) हैं। जब जन-समुदाय के सभी अंग एक न्यूनतम आर्थिक स्तर को प्राप्त कर लें, तब ट्रेड यूनियन की महत्ता जिसकी इस समय अत्यधिक आवश्यकता है, को कम आंकना चाहिये, परन्तु फिर भी समाज का वह एक महत्वपूर्ण भाग बना रहेगा और जनता की आर्थिक जीवन के दिन प्रतिदिन की प्रक्रियाओं को जानता

और नियंत्रित करता रहेगा। इसलिये सार्वजनिक नीति को सम्मुख रखकर ट्रेड यूनियन आन्दोलन के उद्देश्यों को अधिक स्थान देना चाहिये और सार्वजनिक व निजी मामलों में अधिकारों के उपयोग के बारे में कुछ मात्रा में उन्हें स्वायत्तशासी होना चाहिये। उपर वाले वाक्य में कुछ मात्रा में अधिनायकवादी दृष्टिकोण दिखाई देता है, जिसके अनुसार राज्य की भूमिका में प्रशासन और ट्रेड यूनियन आन्दोलन के कार्यकलाप दोनों एक दूसरे के क्षेत्रों में विद्यमान रहते हैं, जब कि राज्य की वह व्याख्या–जिसके अनुसार अराजकता समर्थक अथवा उदारवादिता दोनों ही हैं, ऊपर लिखी गयी भूमिका को ट्रेड यूनियन आन्दोलन के हाथ में सुपुर्द करने में कठिनाई का अनुभव करेगा। वस्तुतः दोनों ही प्रकार की द्विविधायें इस कारण से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि उनके अनुसार राज्य सभी प्रभावों का केन्द्र है। परन्तु इतिहास के तथ्य हमें बतलाते हैं कि यह केवल मात्र एक अल्प काल के लिये सत्य है तथा लम्बे काल में मनुष्य प्रकृति की आधार-भूत शक्तियां अपने आप को एक मौलिक तथ्य के रूप में प्रकट करती हैं और राज्य की सही उपयोगिता के बारे में विरोधाभास और द्विविधायें प्रकट करती हैं। प्राचीन भारतीय मनीषियों की बुद्धिमत्ता इस दृष्टि में निहित है कि राष्ट्र पुरुष विराट को उन्होंने जनता का जीता जागता और बढ़ता हुआ एकात्मकभाव का स्वरूप दिया। समाज के इस राष्ट्र पुरुष के भिन्न-भिन्न अंगों से सभी प्रकार के धर्म उत्पन्न होते हैं जो राज्य अथवा क्षेत्र, कार्यविधि, किसी अन्य आधार पर बने किसी भी जन समूह और पद, आयु अथवा जीवन की कार्यविधि के अनुसार व्यक्तियों से सम्बन्धित रहते हैं। इस धर्म, जो प्रकृति के उन नियमों, जिनके अनुसार वे जन समूह को इकट्ठा बनाये रखते हैं और उनकी जीवन यात्रा को नियंत्रित करते हैं, और जिसे 'लोक संग्रह' और 'लोक यात्रा' के नाम से प्रकट किया गया है, को स्पष्ट रूप से देखा और जीवन शास्त्र के रूप में बतलाया। उसके अनुसार समाज के प्रत्येक भाग को इन नियमों के अनुसार चलने के अन्तर्गत जीवन की वास्तविक स्वतन्त्रता, समरसता और परिपूर्णता की अनुभूति होती है। यह शास्त्र कोई कानून नहीं था, जिसे राज्य सत्ता अथवा किसी अन्य द्वारा प्रकाशित हो। यह वह 'वाणी' थी, जो विभिन्न रूपों, पेचीदीगियों, गहरे अन्तर सम्बन्धों के रूप में सत्य के कार्यकलापों से सम्बन्धित है और जो मानव मात्र को उनके कार्यकलापों में मार्ग दर्शक के रूप में दी गयी है। इस शास्त्र के निरन्तर अभ्यास से समाज ने अपने आपको गठित किया। इतिहास अथवा पुराण ने इन शास्त्रों की महत्ता को जन साधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया, जो उस जाति के स्वानुभव के रूप में प्रकट की गयी है। ये शास्त्र जन-समुदाय के लिये किसी भी प्रकार के अपनाये जाने वाले अनिवार्य नियमों की रूप रेखा को प्रकट नहीं करते, बल्कि कार्य की प्रक्रिया और इसके परिणाम–कर्म फल को बतलाते हैं और विशेष परिस्थितियों में किन-किन

पद्धतियों को अपनाना चाहिये, को समझाते हैं । इसी प्रकार समय-समय पर भारतीय ऋषियों ने 'श्रम विधि' को भी बतलाया है और उनसे हम उद्योग सम्बन्धी विषयों पर आज बहुत से परामर्श पाते हैं, जो वृहस्पति, याज्ञवल्क, नारद, मनु, शुक्र, कौटिल्य और अन्य महापुरुषों द्वारा दिये गये हैं । राज्य ने अपने काम को समाज पुरुष की आवश्यकतानुसार सेवा करना माना है । महाभारत-के शान्तिपर्व में हम पाते हैं कि जब युधिष्ठिर भीष्म से राज्य की उत्पत्ति के बारे में पूछते हैं, तो भीष्म उत्तर में बताते हैं कि पुरातन काल में न राज्य था और न राज्याधिकारी तथा न दँड पाने वाला और न दंड देने वाला था, वरन् समाज में व्यक्ति एक दूसरे को धर्म की शक्ति के आधार पर सुरक्षा करता था ।

न राज्यं नैव राजाऽसीत न दण्डयो न च दाण्डिकः ।
धर्मणैव प्रजा सर्वे रक्षन्ति स्म परस्परम् ।।

न कोई संविधान था और न परिणाम स्वरूप न कोई अनुशासन की कार्यवाही ही विदित थी ।

तेषां नासीद विद्यातव्यं प्रायश्चित कथंचन ।

कोई मृत्युदंड न था, पुरातन काल में सामाजिक निन्दा ही एक मात्र दण्ड था ।

पुराधिग्दण्ड एवाऽसीत वधदण्डोऽद्य वर्तते ।

समाज इस आदर्श स्थिति से क्रमशः गिरता गया । क्या कारण था ? भीष्म कहते हैं—

ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ ।
प्रतिपत्ति विमोहाश्च धर्मस्तेजामनीनशन ।।

व्यक्तियों के मस्तिष्क में द्विविधा फैलने लग गई, उनकी मौलिक शिक्षा दूसित होने लग गयी और परिणाम स्वरूप उनका धर्म छिन्न भिन्न हो गया । तत्पश्चात ईश्वर के आदेश पर राज्य संस्था को अपनाया गया और राजा को सामाजिक संविधान के सरक्षक के रूप में सिंहासनारुढ़ किया गया ।

वर्णाश्रमधर्मप्रतिपालको राजा ।

यहाँ पर यह ध्यान रखने योग्य है कि राजा अथवा सर्वेसर्वा शब्द के अर्थ राजा के रूप में नहीं हैं, जैसा कि विदेशियों ने हमें विश्वास करने के लिये सिखाया । राजा 'धर्म' को कार्यान्वित करने वाला था, न कि कोई 'लार्ड' अथवा धरती का स्वामी और न कानून बनाने वाला । वस्तुतः वह भी कानून से नियंत्रित था । कोई भी राजा अथवा यवराज नहीं बन सकता था, जब तक उसे अधिष्ठित होने के लिये जनसभा की सम्मति और उससे भी बढ़कर उस भू भाग के ऋषियों द्वारा आशीर्वाद प्राप्त न हो जाता । इतना ही नहीं एक छोटे से क्षेत्र का राजा भी अपना स्थान

ग्रहण नहीं कर सकता था, जब तक निःस्वार्थ और प्रबुद्ध ऋषिगण जो कि ७ नदियों के किनारों पर निवास करते थे, (स्वाभाविकतः ये सातों नदियां उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर थीं और भारत के सभी भागों की थी), इ के अभिषेक को पूर्ण नहीं करते। तत्पश्चात उसे उसकी जिम्मेवारियां और कार्यक्रम जो कि उसे पूरे करने होते हैं, बतलाये जाते थे और उसे बताया जाता था कि यदि वह धर्म के अनुसार काम करने में असफल होगा तो धर्म दण्ड के अन्तर्गत उसे दण्ड दिया जायगा अथवा गद्दी से हटा दिया जायगा। ऋग्वेद (१० वां मण्डल) और अथर्ववेद (६ ठां मण्डल) में राजा को बताया गया है कि हमने तुम्हें अपने बीच में अब अधिष्ठित कर दिया है तुम सिद्धान्तों, जो समाज को इकट्ठा बनाये रखता है, उस पर दृढ़ रहो, ताकि जन समुदाय के सभी समूहों को तुम्हारी उपस्थिति इच्छित रहे। समाज को अवनति की ओर मत फिसलने दो, तुम जानों कि तुम प्रजा (विशामय) के हो और तुम्हें राष्ट्र को आदि काल तक बनाये रखना है। इस प्रकार से काम करने पर भूमि के सभी क्षेत्रों में भिन्न विचार रखने वाले भी तुम्हें एक मन से सहयोग देंगे और उनकी समितियां (एसेम्बलीज) स्थायी रूप से तुम्हें बनाये रखेंगी।

आत्वाहार्षमन्तर भूर्ध्रुवास्तिष्टाविचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तुमा त्वद्राष्ट्रमाधिभ्रशत्॥
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्टेह राष्ट्रमुधारय।
ध्रुवो राजा विशामयम् राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्।
सर्वा दिशः संगनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥

यह राज्य कल्पना का मूल है और आधुनिक विचार तथा उसकी प्रगति के सभी घोषणाओं के बाद भी राज्य दर्शन के सभी प्रकार के अनुभव हमें इसी अनुभूति पर लाकर खड़ा कर देते हैं, कि यही मात्र प्रथम विचार है और अन्तिम विचार भी यही है। यह बुद्धिमानी होगी कि हम धर्म की इस कल्पना को ठीक प्रकार से और स्पष्ट रूप से समझें, इसकी सभी धारणाओं की व्याख्या करके प्रस्तुत करें, जो एक स्वतन्त्र और महान जन समूह की सम्मिलित यात्रा को बनाये रख सके और इस दृष्टिकोण के तर्क (Logic) की रूप रेखा को तैयार कर सके।

सामाजिक व्यवस्था और राज्य

अब तब हमने अपनी याचिका में ढांचे के बनाने की पद्धतियों, प्रेरणाओं, दृष्टिकोणों, नियमावलियों, आदर्शों, सिद्धान्तों, सामूहिक गतिविधियों और रचनात्मक दिशाओं को प्रस्तुत किया है, जो सामूहिक एक औद्योगिक परिवार के जीवन की धारणाओं और राष्ट्रीय भावनाओं के एकीकरण को सम्मिलित करके बनती है। अब इस अन्तिम अध्याय में यह प्रस्तुत करना आवश्यक है कि ये विचार किस प्रकार से काम करते हैं और राज्य के संविधान और कार्य कलापों की क्या दिशा होनी

चाहिये, जिन्हें प्रारम्भ में ही हमारे आदर्शों ने इंगित किया है। हमने पहले ही उद्योगों की प्रत्येक इकाई में वर्क्स कमेटी के निर्माण का उल्लेख किया है और उन्हें दिन प्रतिदिन की प्रक्रियाओं और उन्हें बरखास्त करने पर अपने विचार आदि से सम्बन्धित नियमों के बहुत से अधिकारों को बतलाया है। हमने एक औद्योगिक परिवार की कल्पना को कानूनी वादविवाद की आवश्यकता के अन्तर्गत भी प्रस्तुत किया है। हमने उद्योग को सामाजिक संरक्षण, बेरोजगारी बीमा और उसी प्रकार की स्कीमों तथा अभिनवीकरण और तकनीक सम्बन्धी विषयों पर निर्णय होने से श्रमिक को हानि पहुंचने से बचाने के लिये व्यवस्था को प्रशासन के रूप का उल्लेख किया है। श्रमिकों को कारखानों में शेयर होल्डर्स बनाने की प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है, जिसके फलस्वरूप हम क्रमशः 'श्रमिकीकरण' की ओर बढ़ेंगे। कर्तव्यों के निर्धारण और उनसे सम्बन्धित नामकरण, कार्य मूल्यांकन और वेतन नीति सम्बन्धी आधारभूत सिद्धान्त हमें उद्योग की मर्यादाओं को पारकर व्यवसाय आधारित प्रभावी समूह को बनाने में भी सहायक बन सकते हैं। हमने योजना में श्रमिकों को सम्बन्धित करने की आवश्यकता को भी इंगित किया है और अपनी योजना को विकेन्द्रीकरण का स्वरूप देने के लिये भी उल्लेख किया है, जिसके अन्तर्गत शहरों (Township) का जो एक विस्तृत जाल पैदा हो–हर एक शहर (Town) प्रमुखतः एक उद्योग पर आधारित हो, विकास करे और शहर की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन इस प्रकार की हो, ताकि हर श्रमिक को अपना घर बनाने के लिये उचित स्थान मिल सके। इन सभी सुझावों के अन्तर्गत हमारी यह इच्छा है कि इन सब बातों से अपना समाज स्वयं में संगठित (Self possessing collectivity) ढांचे के आधार पर निर्माण करने हेतु आधार बने, साथ ही स्व सामुहिकीकरण जो अपने विस्तृत रूप में एक स्वायत्तशासी एकीकरण की प्रक्रिया है और जो हिन्दुस्थान की पुरातन पद्धति रही है, विकसित करे। ध्यान रहे यह सामाजिक आर्थिक ढांचे का परिपक्व सिद्धान्त है। नारद स्मृति पुरातन काल के औद्योगिक समितियों के क्रमबद्ध ढांचे के बारे में उल्लेख करती है कि आपसी व्यवसाय सम्बन्धों के आधार पर सभी व्यक्तियों द्वारा मिले जुले व्यवसाय संगठन को एक 'कुल' कहा जाता था।

जातिसम्बन्धि बन्धुनां समूहः कुलम्।

कुल स्तर पर मातृभाव का सिद्धान्त अच्छी प्रकार से प्रस्थापित था। जब भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लोग एक अन्तिम उत्पाद् अथवा काम अथवा सेवा की घोषणा करने हेतु इकट्ठा होते थे तो इससे 'श्रेणी' बनती थी।

नानाजातीयानामेकजातीयं कर्मकुर्वतां समूहः श्रेणयः।

भिन्न व्यवसायों और उद्योगों के श्रमिकों जो एक सामान्य क्षेत्र के सभी बिखरे हुये श्रमिक थे, के संगठन से एक 'युग' बनता था।

भिन्नजातीनां भिन्नवृत्तीनाम् एक स्थान निवासिनां समूहाः पूगा । उनके आपसी सम्बन्ध पैतृक भाव पर आधारित थे ।

कुलानि श्रेणायश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः ।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम् ॥

विश्व भर के औद्योगिक सम्बन्धों के बारे में हमारे विवेचन ने यह प्रगट किया है कि किस प्रकार सभी स्थानों पर भिन्न-भिन्न स्तरों पर औद्योगिक श्रमिकों के संगठन बनाने की आधुनिक मनोवृत्ति है और किस प्रकार सम्बन्धित सत्ता की उन्हें उपयुक्त और अन्य कार्यकलापों को करने देने की मनोवृत्ति है । इन परिपक्व सामाजिक आर्थिक संगठनों को अपनाकर परियोजना (Plant) स्तर पर एक श्रम समिति होनी चाहिए जैसा कि सभी श्रमिकों की एक क्षेत्रीय यूनियन यूगोस्लाविया में है या जैसा कि पुरातन भारतीय शास्त्रों में 'युग' के नाम से लिखा गया है । जिसमें कार्य स्तर, उत्पादन, वितरण, वेतननीति, आदान-प्रदान, आवास एवं कार्य की स्थिति से सम्बन्धित सभी मामलों का परियोजना अथवा कारखाने स्तर पर श्रमिकों और प्रबन्धकों की समिति और नागरिकों व औद्योगिक श्रमिकों की क्षेत्रीय स्तर पर समिति की 'सामूहिक कड़ी' द्वारा निर्धारित की जाती है । हमने देखा है कि यूगोस्लाविया ने कुछ हद तक इस कड़ी का विकास किया है । साथ ही तब एक व्यावसायिक समिति भी होनी चाहिए, अपने व्यवसाय से सम्बन्धित कार्यकलापों जैसे प्रशिक्षण, शोध, व्यावसायिक स्तर को बनाये रखने और आपसी रद्दोबदल की जिम्मेदारी को निभा सके । यह समिति एक विशेष काम को भी निभा सकती है, जिसके अन्तर्गत वह कारखाने स्तर पर की समितियों के ऊपर एक प्रकार का नियन्त्रण रख सकती है, जबकि वह अपनी राक्षसी बहुमत का दुरुपयोग कर जितने समुदाय की महत्ता को दुर्लक्ष करने अथवा दबाने में श्रेणी के अनुसार यूनियन का यह ढांचा, अंग्रेजी ढांचे के स्वरूप की महत्ता को सामाजिक जीवन की कोई भी हानि पहुंचाये बिना इनकार नहीं किया जा सकता । इन सब समितियों के ऊपर औद्योगिक परिवार और उसके ऊपर संसद का विशिष्ट सदन (अपर हाऊस) होना चाहिये, जो कार्यकलापों अर्थात् व्यवसायों पर आधारित प्रतिनिधित्व से बने । इन सभी समितियों को राष्ट्रीय योजना और अपने-अपने क्षेत्र के कार्यकलापों को कार्यान्वित कराने के सम्बन्ध में उपयुक्त निर्णय करने सम्बन्धी अधिकार और जिम्मेवारियां दी जानी चाहिये । राष्ट्रीय योजना के बनाने और कार्यान्वित करने में किस प्रकार इनके अधिकार और कार्यकलाप हों और किस भांति इनसे परामर्श किया जाय तथा सम्मिलित किया जाय—की ओर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं । इजराइल और मेक्सिको के उदाहरण हमें संकेत देते हैं कि किस प्रकार इससे एकीकरण (Coordination) हेतु औपचारिक या अनौपचारिक साधनों को बनाया जा सकता

है । एक मात्र अन्तर, जिसका हम आभास करते हैं, वह यह है कि इन समितियों के कार्यकलाप कमेटी पद्धति के द्वारा नहीं होने चाहिये, बल्कि हर क्रम पर इन्हें समितियों का ही स्वरूप बनाये रखना चाहिये, जहां पर कि विद्वान और निःस्वार्थ व्यक्तियों की सहायता से 'धर्म' को परिभाषित किया जा सके । जनक ने इसे 'सभा' नाम से परिभाषित किया है ।

न सा सभा यत्थ न सन्ति सन्तो ।
न ते सन्तो ये न भणन्ति धम्मं ॥
रागं च दोसं च पहाय मोहं ।
धम्मं भणन्ता च भवन्ति सन्तो ॥

यह समिति (एसेम्बली) के लिये गुणात्मक कोरम के रूप में है । जब तक किसी सभा अथवा समिति में धर्म की व्याख्या करने वाले कुछ लोगों की उपस्थिति नहीं होती, तब तक उस सभा को ठीक प्रकार से बनी हुई अथवा उसकी बैठक को ठीक प्रकार से कार्यान्वित की गयी की घोषणा नहीं की जा सकती । धर्म की व्याख्या करने वाले वे लोग होते थे, जो मन से विरक्त हैं, अपनी वाणी और क्रियाओं में दोष रहित हैं और समिति में उपस्थित होने के लिए कोई प्रलोभन नहीं है । वस्तुतः समिति की इस अनोखी बनावट और इस संवैधानिक प्राविधान के पीछे छिपी हुई गहरी बुद्धिमत्ता को चुनौती नहीं दी जा सकती । हम आज भी यह अनुभूति कर सकते हैं कि किस प्रकार हमारे योग्य पूर्वज चतुः आश्रम (सन्यास) में दाखिल होने और अनुभवों और ज्ञान से पूर्ण होने पर भगवान की गतिविधियों की सत्यता को प्रस्तुत करके समितियों को उन दृष्टिकोणों से प्रकाशित करते थे । ध्यान रहे ये कोसन्यासी एक स्थान से दूसरे स्थान पर हमेशा घूमते रहते थे और किसी भी स्थान पर ३ दिन से अधिक नहीं रहते थे और वशिष्ठ के समान उच्चस्तर की अनुभूति को प्राप्त करते थे । ये सन्यासी समिति के सम्मुख हर समस्या की व्याख्या, रहने की कला, हर समस्या के कारण व निदान के सम्बन्ध को बतलाते थे (जैसा कि महाभारत में विस्तृत रूप से प्रगट होता है) और इसके पश्चात निर्णय करने के लिये सभा पर छोड़ देते थे । यद्यपि कुछ समितियों (एसेम्बलीज) जैसे-कंश अथवा दुर्योधन की थी, को ऋषियों के परामर्श की चिन्ता नहीं थी, क्योंकि निर्णय हेतु सभी समितियाँ स्वतन्त्र थी, क्योंकि प्रजातांत्रिक प्रणाली में यह अनोखा प्राविधान था कि अपने सही उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अपना अत्युत्तम सम्भव रास्ता जो मानवता प्राप्त कर सकती है, अपनावें । हर स्तर पर नीति निर्धारण हेतु एक समिति होनी चाहिये, इसे एक समान प्रेरणा केन्द्र द्वारा चालित होनी चाहिये, एक समान निर्णय पर आना चाहिए और समान नियमों व नियंत्रणों को स्वीकार करना चाहिए, जैसा कि ऋग्वेद में लिखा है—

समानो मन्त्रः समितिः समाती समानं व्रतम् ।

पैतृक और अन्तर सम्बन्धी सामूहिक जीवन–एक राष्ट्र के जीवन को बनाता है । राज्य को इन सबके बीच में नियमों को स्थापित करने वाले के रूप में खड़ा होना चाहिए, जो राष्ट्र जीवन और उसकी समितियों के कार्यकलापों को सुविधा प्रदान करे । इस प्रकार से ही उत्पादन कल्याण में बढ़ोत्तरी, ज्ञानदान का विस्तार और सर्वव्यापी सम्पन्नता आ सकती है । जैसा कि राजा को 'अभिषेकमन्त्र' समझाता है—

इयं ते राष्ट्र । यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः ।
कृष्यैत्त्वा, क्षेमाय त्त्वा, रय्यैत्त्वा, पोषायत्त्वा ।।

यह राज्य की जिम्मेदारी है कि वह अपने आपको इससे अवगत कराये कि किस प्रकार जनता को सम्पन्नता प्राप्त हो सकती है किस प्रकार से उन पद्धतियों को जिनसे राष्ट्र लाभान्वित हो और सुखी समृद्धि आवे, लागू की जाय और बनाये रखी जाय, जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में परिभाषित है—

मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवृत्ती भूमिरित्यर्थः ।
तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः तस्यं शास्त्रमर्थशास्त्रमिति ।।

इस अर्थशास्त्र की परिभाषा इकानामिक्स (Economics) शब्द की व्याख्या से व्यापक है, क्योंकि अर्थशास्त्र न केवल मनुष्य व्यवहार से सम्बन्धित विज्ञान है, बल्कि तकनीकी सम्बन्धी विज्ञान भी है और वह एक ओर मनुष्य की इच्छाओं 'काम' के ज्ञान और दूसरी ओर सामाजिक संकलन (Social Synthesis) 'धर्म' के नियमों पर आधारित है । ये सभी शास्त्र राजधर्म के एक भाग का प्रगटीकरण करते हैं, जो राज्य की स्थापना से सम्बन्धित है यह उन आवश्यकताओं से उत्पन्न होती है, जो राज्य की कल्पना को जन्म देती है और मार्ग दिखाती है कि किस प्रकार से उसकी गतिविधियाँ पूरी की जा सकती हैं जैसा कि मनुस्मृति अपने ७ वें अध्याय के शुरू में कहती है—

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमायथा ।।

महाभारत का शांन्ति पर्व भी हमें बतलाता है कि जब कोई व्यक्ति राजनीतिक सत्ता के स्थान पर बैठता है तो उसे अपनी व्यक्तिगत इच्छा अथवा अनिच्छा के आधार पर नहीं चलना चाहिये, बल्कि जनसमाज के हित के लिये जो अनिवार्य हो, उसके अनुसार चलना चाहिये, जैसा कि एक गर्भवती स्त्री अपनी व्यक्तिगत मनो इच्छाओं से दूर रहती है और वही सब कुछ अपनाती है जो कि बच्चेदानी के भीतर पलने वाले भ्रूण (बच्चे) के लिये लाभप्रद होता है ।

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राजाऽप्यसंयम् ॥
वर्तितव्य कुरुश्रेष्ठ यथल्लोके हितं भवेत् ॥

पुनः शान्ति पर्व बतलाता है कि 'उस राजा को सर्वोच्च माना जाना चाहिये, जिसके शासन में नागरिक बिना किसी भय के रहते हों, जैसे बच्चे अपने पिता के घर में रहते हैं।'

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचारिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥

ऊपर की दोनों ही उपमायें—अद्यौगिक सम्बन्धों की राज्य नीति की आवश्यकताओं को अत्युत्तम ढंग से प्रस्तुत करती हैं। यह देखना राज्य का कार्य होना चाहिए कि हर एक नागरिक बिना किसी भय के वह रास्ता अपना सके जिससे कि वह अपने कार्य और जीवन पद्धति द्वारा अपने विकास को कर सके, साथ ही राज्य की यह स्थायी जिम्मेवारी है कि वह जाति की क्षमताओं के पोषण हेतु हर समय अपनी भूमिका अदा करे। समाज व पुरुष के बीच के विकास की सहायता हेतु राज्य की यह निर्माणकारी भूमिका है तथा उसके लिये यह आवश्यक है कि राजनीतिज्ञ इस विषय को बड़े ध्यान पूर्वक और मार्मिक रूप से ग्रहण करें, क्योंकि इसके किये बिना यह निश्चित है कि वे अपने आपको नपुंसक रूप में सिद्ध करेंगे। सार्वजनिक नीति के हर पहलू के लिये राज्य को जनता के पूर्ण विश्वास का भाजन बनना चाहिए।

'राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ।'—शान्ति पर्व

पुरातनकाल के भारतीय विचारकों द्वारा अनुभूति किये गये राज्य के वे कार्यकलाप और वे संविधान होने चाहिये, जो कि हमें एक महान व श्रेष्ठ परम्परा के रूप में मिले हैं।

एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयोः विदुः । स कालेनेह महता धर्मो
नष्टः परंतप । स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

जैसा कि कृष्ण ने यह आवश्यक समझा था कि इस खोये हुये 'योग' को भगवद्गीता के रूप में पुनः प्रस्तुत करें, इसी प्रकार अब यह भी आवश्यक है कि राज्य के संविधान और कार्यकलापों के बारे में परम्परागत ज्ञान को पुनः प्रस्तुत किया जाय। यह वह ज्ञान है जो पुरातन काल के ऋषियों एवं राजाओं को मालूम थी और उसका उपयोग किया जाता था। यह न केवल इसलिये आवश्यक है कि यह हमारी पैतृक सम्पत्ति है और एक प्रेरणादायक पक्ष है वरन् इसलिये भी अनिवार्य है क्योंकि यह राज्य की जिम्मेवारियों और जनजीवन में उसके स्थान के बारे में अत्युम वैज्ञानिकप रिभाषाओं को व्यक्त करता है आधुनिक काल का कोई भी इज्म (वाद)

इस जानकारी को पूर्णरूपेण खोज नहीं पाया है, यद्यपि सभी प्रकार के वाद इस ज्ञान की खोज के लिये प्रयत्न कर रहे हैं और क्रमशः अनुभवों के आधार पर इस ओर प्रस्तुत हो रहे हैं, जैसा कि गीता में कहा गया है –ऐसा होना स्वाभाविक ही है पर यदि ऐसे अनुभव न भी होते तो भी वही निष्कर्ष निकलता ।

कर्तुंनेच्छारी यन्मोहात् करिषस्यावशो ऽ पितत् ।

इस प्रकार हमारे सम्मुख हमारे स्वपनों के अनुसार एक संगठित समाज का चित्रण है । इस चित्रण के अनुसार राज्य की वह कल्पना नहीं है, जो संस्था और पद्धतियों पर, कानून और प्रशासन के ऊपर तथा एक जीवित समाज के स्थान पर एक यांत्रिकीय राज्य की स्थापना की जाय । यह तो एक मरणासन्न प्रवृत्ति पर आधारित जंजीर है, जो अच्छी प्रकार से विभूषित होकर सैनिकीय अनुशासन की कुशलता को पोषित करती करती है, बल्कि हम अपने सम्मुख एक दूसरे प्रकार की दृष्टि रखते हैं, जिसके अन्तर्गत परियोजना (प्लान्ट) स्तर पर समितियों का एक समूह, जो कि हर उद्योग और हर युग के लिये है, क्षेत्र और उद्योग सम्बन्धी आधार पर है तथा हर एक उद्योग के लिए राष्ट्रीय स्तर पर है, जो गतिविधियों सम्बन्धी कार्य के लिये संसद के वरिष्ठ सदन 'उद्योग सभा' के रूप में परिणित हो । इन सभी को मिलाकर ही समाज पुरुष का पूरा चित्रण होता है । समाज के इस जीवित ढांचे में परियोजना स्तर की समिति की आधारभूत लघु समुदाय एक जोशीले, किन्तु स्वाभाविक आन्तरिक शक्ति के प्रथम चरण के रूप में विकसित होती हैं (इसके दूसरे छोर का उदाहरण रूस की आधुनिक वाध्यता के अन्तर्गत निम्न स्तर पर चल रही ट्रेड यूनियन्स और अनिवार्य विकेन्द्रीकरण की स्थिति है) । स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर ये लघु समितियां स्वाभाविक और स्वतन्त्र रूप से अपनी मर्यादायें और रूप रेखा, जीवन के ढांचें और सामाजिक आर्थिक पद्धतियों के रूप देंगी, ध्यान रहे ये आधारभूत मान्यतायें समुदाय के जीवन के अन्तर्ज्ञान और स्वभाव से उत्पन्न होंगी । क्रमशः उच्चस्तर पर सामूहिकीकरण से ये लघुसमूह एक दूसरे में मिश्रित होते जायेंगे, जो बढ़ते-बढ़ते एक सामाजिक और सांस्कृतिक एकता में प्रगट होंगी और इनसे भी व्यापक समूह समितियों के बनने से एक समान भावना और एक समान आधार तथा एक व्यापक ढांचे का निर्माण होगा । ध्यान रहे कि प्राचीन काल में इसके लघु स्वरूप और ढांचे के असंख्य रूपों में बहुत स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है । यह भारतीय समाज का आदर्श था । कोई कठोर समानता की आवश्यकता न थी, समान भावना और जीवन प्रवृत्ति एक व्यापक एकात्म के नियम को ढांचे के लचीलेपन पर थोपने के लिये पर्याप्त थी । समाज के इस ढांचे में निम्न और छोटे स्तर पर ऊपर लिखी हुयी संस्थाओं में विशेष गुण निहित थे, न कि व्यापक सामाजिक आर्थिक ढांचे में इनको समाप्त किया गया था । समाज के प्राकृतिक विकास में जो अपने आपको

स्थायी नहीं कर पाया और जिसकी अ वश्यकता नहीं थी, स्वय ही रास्ते से हट गया और निष्फल होने के कारण समाप्त हो गया, साथ ही जिसने परिस्थितियों और वातावरण के अनुकूल अपने आपको ढाला, वे जीवित बने रहे तथा जो कोई जन जीवन और स्वभाव के स्वस्थ औ· सुदृढ़ नियमों के अनुरूप काम करते रहे, वे व्यापक बन गये और समाज नीति और पुरुष के स्थायी रूप में अपना स्थान प्राप्त कर लिये। मनुष्य निमित्त के प्रति गम्भीर सम्मान, भारतीय जीवन और आत्मा का प्राकृतिक प्रकटीकरण, धर्म का स्वस्थ व सही प्रकटीकरण अथवा मनुष्य मात्र के अस्तित्व के उचित नियम–भारतीय समाजशास्त्र के तय किये गये सिद्धान्तों अर्थशास्त्र और राजनीति के सबल इकाईयों के रूप में सदैव बने रहे हैं। जन समुदाय के जीवन की प्राकृतिक व्यवस्था को यांत्रिकी पद्धति द्वारा स्थानापन्न करना–यूरोपियन सभ्यता की बीमारी रही है, जो अब अफसरी राज्य के राक्षसी अकृतिम संगठन के रूप में परिणित हुयी है। ट्रेड यूनियन आन्दोलन की भूमिका का जो विश्व व्यापी चित्रण किया गया है, वह यह प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार सभी स्थानों पर जन-समुदाय के स्वतन्त्र आन्तरिक भाव राज्य के इस लौह सदृश कठोर और यमराज समान कानून–जो यांत्रिकी अथवा ठेनेदारी सम्बन्धी जीवन प्रणाली है, उससे बाहर निकलने की कोशिश कर रहा है, जबकि दूसरी ओर सत्य व शुभ और आत्मनिर्भर किये जाने वाले निर्माणकर्ता के आधार पर भारतीय जीवन की नींव रखी गयी है। जीवन को 'मैं' के प्रकटीकरण के रूप में माना गया है। समुदाय को ब्रह्माण्ड निर्माता ब्रह्मा का का शरीर माना गया है, और उसमें समाज को समष्ठि भाव के रूप में तथा ब्रह्मा को जीव के रूप में माना गया है। इस सामूहिक प्रक्रिया को नारायण के रूप में माना गया है, जैसे– व्यक्ति को व्यक्ति में निहित ब्राह्मण माना गया और उसी प्रकार राजा अथवा राज्य को धर्म का संयंत्र माना गया और समुदाय की शेष व्यवस्थाओं को इस सामूहिक पक्ष के अन्तर्गत प्राकृतिक रूप में स्थान दिया गया। समाज के ये सभी अंग एक दूसरे से सम्बन्धित सत्ता के रूप में होने के कारण अपने अधिकार को न केवल राज्य से प्राप्त करते थे, बल्कि एक सम्माननीय और पवित्र मार्ग से प्राप्त करते थे, जिसको प्रभावहीन करना राज्य के अधिकार में नहीं था। जैसा कि अरविन्द ने इसे संक्षेप में प्रस्तुत किया है, "विश्व के समान मनुष्य जीवन की ठीक व्यवस्था प्राचीन भारतीय विचार के अनुसार चलती रहती है, जिसके अनुसार हर व्यक्ति अपने स्वधर्म, जो उसका सही कानून और प्रकृति की मर्यादा है, को इमानदारी से अपनाता है और समूह का व्यवहार एक सामूहिक जीव प्राणी के अनुसार होता है जो उसकी प्रकृति और सही कानून के अन्तर्गत भी क्रियाशील रहता है। ध्यान रहे कि व्यक्ति और समूह की प्रकृति अपने ही प्रकार की होती है। परिवार, वर्ग, जाति, समाज, धर्म' औद्योगिक अथवा अन्य समुदाय, राष्ट्र और जनता सभी को जीव प्राणी के

रूप में माना गया है और वे अपने धर्म का विकास करते हैं और अपने पालन, स्वस्थता, निरन्तरता और स्वस्थ कार्यकलापों की स्थिति को अपनाते हैं। सामाजिक स्थान, उसके कार्यकालापों और अन्यों से सम्बन्ध हेतु भी धर्म ही है, जैसा कि परिस्थिति, वायुमण्डल, काल और वे सब जो प्राकृतिक धर्म पर प्रभावित हो हे हैं, धर्म पर भी लागू होते हैं। ध्यान रहे कि ये सभी गतिविधियां स्वाभावानुकूल होती हैं और नियमों के समूह को बनाती हैं इसलिये स्वयं से निर्धारित होने वाला व्यक्ति और समूह प्राणी होने के नाते और जिसके द्वारा प्राणी बनाया गया है, के उचित और स्वतन्त्र नियम के अनुसार जीवित रहना आदर्श है। और राज्य का काम समाज के जीवन से बिना आवश्यकता के हस्तक्षेप करना नहीं है और उसे अपने नियम, रीति-रिवाज स्वाभाविक विकास के अनुसार अत्यधिक समय तक काम करने देना चाहिये। इस ठीक प्रक्रिया मे सहयोग और निरीक्षण भी करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि धर्म को उत्साह से अपनाया जाता है और जो नकारात्मक दृष्टि अपनाते हैं, उन्हें दबाना चाहिये, दण्डित करना चाहिये और जहां तक हो सके धर्म के विरुद्ध आक्रमण को रोकना चाहिये। इसलिये इस जीव समान राजनीति के सत्ताधारी वर्ग की यह प्रमुख जिम्मेवारी थी कि वह समाज जीवन के इस स्वस्थ कानून को अपनाने हेतु सहायता व सेवा करे। राज्य प्रमुख धर्म का संरक्षक और प्रशासक था। समाज के प्रमुख कार्यकलाप की अन्तरात्मा आर्थिक और मनुष्य की दूसरी आवश्यकताओं और उसकी आमोद-प्रमोद और खुशहाली के अन्तर्गत सुख प्राप्ति के दावे के सही समाधान में निहित है, जो कि उनके ठीक नियमों के अनुसार हो, उनके समाधान का माप हो और जो नैतिक व सामाजिक धर्म के आधीन हो। सामाजिक आर्थिक–समूह के सभी सदस्यों और गुट का अपना धर्म था, जो उनकी प्रकृति, उनके स्थान और पूरे समूह के साथ उनके सम्बन्धों के आधार पर निर्धारित था और उसके स्वतन्त्र और सही उपयोग करने के लिये विश्वास दिया गया था। उन्हें अपनी मर्यादाओं में अपने और अपने द्वारा निर्धारित कार्यकलापों को करने की छूट थी और साथ ही अपनी सही मर्यादाओं और उचित कार्यकलापों से दूर हटने अथवा अपनी मर्यादाओं को पार कर दूसरे में दखल देने पर अंकुश लगा हुआ था। राज्य को इतना मात्र करने के लिये कहा गया था कि वह एकात्मकता उत्पन्न करे, सर्वसाधारण और सर्वोच्च नियन्त्रण को कार्यान्वित करे, जरायम और अव्यवस्था को दबाये, आर्थिक और औद्योगिक कल्याण की व्यापक शृंखला को नियन्त्रित करे, सुविधाओं के प्राविधानों को देखे और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उस सत्ता का प्रयोग करे–जो इन सभी की सीमा के बाहर है। परिणामस्वरूप भारतीय राजतन्त्र बहुत ही पेचीदे प्रकार की प्रभावी पद्धति थी, जिसमें साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता और स्वनिर्धारण था। समाज के हर एक समूह की इकाई की अपनी उचित जीवन व्यवस्था

और व्यापार था, वह व्यापार अन्य सभी के कार्य क्षेत्र और सीमाओं से एक प्राकृतिक आधार पर विभाजित था, परन्तु वह समूह से एक अच्छी प्रकार और समझदारी के सम्बन्धों से जुड़ी थी। यह व्यवस्था साम्प्रदायिक अस्तित्व की जिम्मेवारियों और सत्ताओं में शेष सभी के साथ सह सहभागी थी, अपनी उचित सीमाओं के अन्तर्गत अपने कानूनों व नियमों का प्रशासन करती थी, सामूहिक व सार्वजनिक हितों के सम्बन्धों के वार्तालाप और नियन्त्रण से जुड़ी हुयी थी और राज्य की सार्वजनिक समितियों में भी एक प्रकार से प्रतिनिधित्व करती थी और इस प्रतिनिधित्व का अनुपात इसकी महत्ता पर आधारित था। राज्य एकीकरण व एकात्मता का संयंत्र था और उसकी रक्षा हेतु वह सर्वोच्च अधिकार का प्रयोग करता था परन्तु यह अधिकार पूर्णरूपेण न था, क्योंकि इसके सभी प्रकार के हक और सत्ता, कानून और जनता की इच्छा शक्ति की सीमा में आबद्ध थी। और वह अपने सभी भीतरी कार्य-कलापों में सामाजिक राजनीतिक संगठन के दूसरे सदस्यों के साथ सहभागी था। यही भारतीय राजतन्त्र का विवेचन सिद्धान्त और वास्तविक संविधान था। साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता और सहनिर्धारण की पेचीदी व्यवस्था, जिसको एक सर्वोच्च एकीकरण अधिकृत शक्ति नियंत्रित करती थी और यह कुशल सत्ता स्थान और सम्मान से सज्जित थी, परन्तु अपने हकों और कार्यकलापों में सीमित की गयी थी, क्योंकि अपने को स्वयं नियन्त्रित करती थी और शेष से नियंत्रित होती थी, साथ ही वह अपनी सभी शाखाओं में उसे सक्रिय सहभागी के रूप में स्वीकार करती थी, साम्प्रदायिक अस्तित्व के लिये प्रशासन और नियंत्रण में भागीदार थी और इस प्रकार राज्य जनता और उसके सभी भाग जो समुदाय के रूप में थे, धर्म के चक्र की देख-रेख और उसके नियंत्रण के अधीन थी। साथ ही साम्प्रदायिक जीवन के आर्थिक और राजनीतिक जीवन, धर्म के ही एक भाग थे, जो अपने में पृथक-पृथक नहीं थे परन्तु एक दूसरे से गहन और जटिल रूप से जुड़े हुये थे और सामाजिक अस्तित्व के उच्चतम सांस्कृतिक उद्देश्य 'धर्म और नैतिकता' थे। समाज जीवन को अपने में ही एक उद्देश्य के रूप में नहीं माना जाता था, यद्यपि अपनी पद्धति के अनुसार उसका विशेष स्थान था, बल्कि अपने सभी पक्षों और सम्पूर्ण को एक उच्च ढांचे के रूप में माना जाता था, जो मानव मस्तिष्क और आत्मा तथा उसके विकास की शिक्षा के लिये प्रशिक्षण का आधार था। प्रकृति से आध्यात्मिक अस्तित्व की ओर उसका विकास किया जाता था।" सम्पूर्ण भारतीय पद्धति सभी प्रकार की व्यवस्थाओं के एक सामूहिक जीवन में निकट रूप से भाग लेने पर आधारित था, हर एक अपने क्षेत्र में मुखिया था, परन्तु किसी को भी नागरिक जीवन व राजनीति में एक प्रभावी स्थान और आवाज, प्रशासन, न्याय में उसको अपने हिस्से से दूर नहीं रखा जाता था। परिणामस्वरूप किसी भी समय प्राचीन भारतीय राजनीति का विकास इस

प्रकार नहीं हुआ अथवा कम से कम इसका वह स्वरूप लम्बे काल तक नहीं बना रहा, जिसके अन्तर्गत वर्ग नियम के स्वरूप एक दूसरे से भिन्न हों और अछूते हों, जैसा कि एक लम्बे काल तक और बड़े शक्तिशाली रूप से दूसरे देशों की राजनीतिक इतिहास में स्पष्टत: दिखाई देते हैं। इस प्रकार भारतीय चिन्तन और स्वभाव एक बुद्धिमत्तापूर्ण और स्थायी संकलन पर पहुँची है। यह कोई खतरनाक अस्थाई संतुलन न था, यह कोई समझौता या सन्तुलन न था बल्कि सभी प्रकार के प्राकृतिक सत्ताओं और व्यवस्थाओं का संकलन था, यह एक जीवित और आवश्यक एकीकरण था, जो सामुदायिक समूह के सभी अंगों के स्वतन्त्र कार्य-कलापों के प्रति सम्मान रखता था तथा परिणामस्वरूप अपने क्षय, गड़बड़ी और अव्यवस्था के रोकने में समर्थ था। ध्यान रहे कि उक्त सभी बाते मनुष्य सम्बन्धोपद्धतियों पर काब पाती हैं और उनकी भिन्न-भिन्न गति होती है।

तब हमें क्या करना चाहिये

सामाजिक आर्थिक पुनःनिर्माण के लिए भारतीय राज्यतन्त्र का यह आधार भूत सिद्धान्त है और यह जिस हद तक पहले लागू किये जाने योग्य थे, उससे किसी भी मात्रा में अब कम नहीं अपनाया जाना चाहिये। मनुष्य मात्र के रहन-सहन के लिये विश्व के किसी अन्य देश ने इससे बढ़िया ढांचे को इगित करने अथवा विकास करने के योग्य कोई ढांचा नहीं बनाया। इन आधार भूत सिद्धान्तों में ऐसा कुछ नहीं जो हमारी आधुनिक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के विरुद्ध हों और उसके अनुसार उचित न बैठता हो। यदि वे हमारे अथवा पूरे विश्व के लिए कुछ प्रस्तुत करते हैं, जो बहुत से विचारों के व्यापक संकलन के रूप में है, जिसके लिये सारा विश्व बड़ा परिश्रम कर रहा है अथवा उसको प्राप्त करने के लिये तड़पड़ा रहा है। हमें अपने आपको पुन: खोजना चाहिये। ऋषियों के दिये हुये तत्वज्ञान को सम्मुख लाना चाहिये, जो एक विद्वतापूर्ण सत्य है। ये सभी लोग स्व अनुभूति और स्व प्रशंसा के आधार पर अपने आपको और इसमें व्यापक संकलन को खोजें। इस पुरातन राष्ट्र के इस प्रकार के पुनः संगठन से विश्व के संगठित जीवन में इसको बड़ी सरलता और शक्तिशाली ढग से प्रवेश करना चाहिए, ताकि विश्व को भगवानोन्मुख प्रयत्नों में नेतृत्व करने हेतु अपने ध्येय की पूर्ति वह कर सकें। राजनीति के इस ज्ञान को हमारे लिए पुनरावृत्ति करना कोई लम्बे काल की बात नहीं है। अपने इतिहास के समीप के ही काल में और हर पन्ने पर इसके अभ्यास के चिन्ह मिलते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय प्रशासन अभ्यास की यह एक साधारण रीति थी कि किसी कार्य सम्बन्धी व्यक्ति की आवश्यकताओं को उसके बाहरी कार्यकलापों द्वारा उतना नही प्रस्तुत किया जाता था, जितना उसकी भीतरी विशेषताओं द्वारा उस स्थान की जिम्मेवारियां को निभाने के लिए आवश्यक है। कार्यकलाप सम्बन्धी

चारों वर्णों को भी उनकी भीतरी कुशलताओं को ध्यान में रखकर बतलाया गया है, जैसा कि शमो दमस्तपः शौचं .....आदि। शुक्रनीति के अनुसार राजा के सलाहकारों की जिम्मेवारियों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है–

राजा तु धार्मिकान् सम्यान नियुज्ज्यात् सुपरीक्षितान्।
व्यवहारधुरंवोढुं ये शक्ताः पुङ्गवा इव ॥
लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः.....आदि।

हम प्रशासन के तरीकों के आधारभूत विचार समान रूप से देखते हैं जो कि प्रशासकों की सर्वव्यापी प्रशंसनीय परम्परा है। मराठा इतिहास में रामचन्द्र नीलकण्ठ आमात्य की आज्ञायें (अमात्यांजी आज्ञापत्र) इन दिशाओं को पूरे रूप में प्रकट करती हैं जो कि राज्यतंत्र की आदिकाल से स्थापित व्यवस्था में निहित है। उदाहरणार्थ- शिवा जी द्वारा व्यक्तियों के साथ किये गये वर्ताव व व्यवहार सम्बन्धी ढंगों क बतलाते हुये उन्होंने लिखा है–"मनुष्य परीक्षनें नूतन चसेवक नवाजून योग्यतेनुसार भार वाढवून महत्कार्योपयोगी करून दाखविले। येकासयेक असाध्य असतां स्वसामर्थे सकलांवरि दया करून येकाचा येकापासून उपमर्द होऊं न देतां येकरुपर्तेने वर्तऊन त्याहातून स्वामि कार्ये घेतली।" प्रशासन के अभ्यास से सम्बन्धित यह छोटा स त्विवरण बहुत सी ऐसी पद्धतियों का बोध कराती हैं, जिसमें यह बतलाया गया है कि सरकार को किसी उद्देश्य हेतु किस प्रकार संगठित किया जाना चाहिये और किस प्रकार से प्रभावी काम करना चाहिये। उसमें यह प्रकट होता है कि भारतीय प्रशासक इस बात से अवगत थे कि किस प्रकार चुनाव और नियुक्ति के समय व्यक्ति के गुणों को पहचानना चाहिये और किस प्रकार प्रशिक्षण और अनेक उदाहरणों द्वारा तथ्योपस्थापन की प्रक्रिया में से गुजरना चाहिये, ताकि वह अधिक से अधिक जिम्मेवारी और विस्तृत कार्य के निभाने योग्य बन सके और किस प्रकार कार्य की महानता और विस्तार के स्वरूप अपने आपको कुशल सिद्ध कर सके। उन्हें इस बात की भी अनुभूति थी कि किस प्रकार बहुत से महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के सर्वव्यापी क्षमता वाले (Master-Mind) समूह को साथ लेकर (Team work) उनके काम करने की क्षमता का उपयोग जा सकता है, किस प्रकार से उनके आपसी संघर्षों को हटाया जा सकता है, किस प्रकार स्नेह भाव और दया भाव के विस्तार हेतु सत्ता का उपयोग किया जा सकता है, ताकि सत्ता के कार्य के लिये समर्पण भाव के कारण कोई भी एक दूसरे के काम में हस्तक्षेप न कर पाये और सभी एकता की भावना से एक दूसरे के कार्य में सम्मलित हों भारतीय श्रम और औद्योगिक प्रशासन के लिये यह अनिवार्य है कि मन और हृदय की इन कुशलताओं का प्रकटीकरण हो, क्योंकि यही एक मात्र मार्ग है, जिसमें इच्छित सामाजिक और आर्थिकजीवन के जीवित ढांचें का निर्माण हो सकती है और स्थायी बनाकर रख सकती है। मनुष्य में इन दैवी योग्यताओं को किस प्रकार

पैदा किया जाय, चार आश्रमों में से पहला आश्रम, 'ब्रह्मचर्य'–इस क्षेत्र की प्रथम खोज है। हमें भारतीय शिक्षा पद्धति ने हर मनुष्य में इन क्षमताओं को पैदा करने की प्रक्रिया प्रदान की है, जो कि ध्यान को केन्द्रित कर अभ्यास से पैदा होती है परन्तु इनके बारे में हमें दूसरे मंच पर बोलना होगा, क्योंकि यहा पर हम द्वितीय आश्रम, 'गृहस्थाश्रम' के बारे में बोल रहे हैं। श्रम का क्षेत्र और औद्योगिक अभ्यास का क्षेत्र–'गृहस्थाश्रम की स्थापना और उसकी समृद्धि से सम्बन्धित है, जो सामाजिक जीवन में रीढ़ की हड्डी का काम करती है और जिसके ऊपर शेष आश्रम आश्रित रहते है और फलते फूलते रहते हैं तथा इस राष्ट्र के सामने जो एक प्रमुख काम के रूप में है और जो श्रम सम्बन्धी राष्ट्र व्यापी समस्या है, उत्पादन वितरण और आदान-प्रदान के क्षेत्रों में मानव शक्ति को दिशा देने, और सामाजिक आर्थिक ढांचे के बारे में साथ ही जो इस मानव प्रयत्न को नियंत्रित और संगठित कर सकती है, उसको एक 'श्रम–आ–श्रम' का स्वरूप दें। यहां पर हमने एक आधारभूत दिशा की ओर ही संकेत किया है, न कि प्राथमिक पद्धति की ओर।

हमें यह अवगत है कि यह प्रयत्न बहुत ही सीमित और असंगठित रूप में प्रस्तुत किया गया है, पर साथ ही हम इस तथ्य से भी परिचित हैं कि यहां पर लिखी आधुनिक समस्याओं का हल–भारत माता की अन्तरात्मा के गहरे और विस्तृत ज्ञान के एक लघु अंश से उत्पन्न हुयी है। हमें अपने आपको उन तथ्यों पर केन्द्रित करना चाहिये, क्योंकि यही एक मात्र मोक्ष का रास्ता है। राष्ट्र और व्यक्ति जो अन्तरात्मा के ज्ञान को प्राप्त करता है और उसमें जीवित रहता है, केवल मात्र वही इस समूचे ब्रह्माण्ड को अपना सकता है और एक रूप हो सकता है। 'स्वरत', अर्थात् अपने में स्वतन्त्र, आत्मसंयमी और स्वनियंत्रित ही विश्व का अधिकारी 'सम्राट' हो सकता है। यह सत्य है कि हम अपने प्राचीन काल के ढांचे की ओर नहीं जा सकते, परन्तु हम अपने अस्तित्व को अपनाकर पर्याप्त रूप में आगे बढ़ सकते हैं, जो हमें पहले से अच्छी, जीवित, वास्तविक और अधिक अन्तःसंयमी बना सकती है। अपने बीते वर्षों के अनुभव और आज तक के विश्व के अनुभव का सम्पूर्ण और सही रूप में उपयोग किया जा सकता है। इस संदर्भ में हम सुविधा प्राप्त स्थिति में हैं, क्योंकि हमारी आत्मा, प्रकृति और सिद्धान्तों की इमानदारी ने हमें एक आदर्श पूर्ण भूमिका प्रदान की है। हम आधुनिक काल की सभी समस्याओं को सफलतापूर्वक हल करने के लिये आग्रह रखें और आने वाले काल और भविष्य के वायुमण्डल के लिये अपने विशेष प्रकार के ढांचे का निर्माण करें और जो सभी प्रभावों और परिस्थितियों से सशक्त और कुशलतापूर्वक जूझने में सक्षम हो। इन सिद्धान्तों घोषणा, पद्धति और दिशा देने वाले ज्ञान के क्रियान्वित करने में बहुत अधिक कट्टर नहीं होना चाहिये। हर एक योग्य भारतीय मस्तिष्क को इसका हल निकालने के बारे में सोचना

चाहिये। अपने प्रभाव अधिकार और कार्यक्षेत्र में इसे क्रियान्वित करना चाहिये। भारतीय जागृति के युग की आत्मा जो अब जीवित हो रही है, शेष सबकी चिन्ता के लिये व्यापक रूप से जागरूक हो रही है, क्योंकि पुरातन विस्मरणीय शक्ति का पुनः स्मरण कर अपने गहरे अस्तित्व को फिर से प्राप्त कर रही है तथा प्रकाश और शक्ति की सर्वोच्च स्रोत की ओर अपने सिर को ऊँचा उठा कर बढ़ रही है। अब वह नित्य नूतन और महान भारत की खोज की ओर आमुख हुयी है, जिस पथ पर चलकर वह अपने धर्म के सम्पूर्ण अर्थ और व्यापक ढांचे को प्राप्त करेगी।

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संहता स्वात्मशासिताः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः प्रेयः सलन्विताः॥
राष्ट्रांगभूताभूत्यर्थं राज्ययंशेण सेविताः।
उद्योगजनसंधास्ते धर्मचक्रप्रवर्तकाः॥

oooooooo